समरसता के सांस्कृतिक आयाम : भारतीय वाङ्मय के संदर्भ में

1. **डॉ. सीमा शर्मा**, अध्यक्ष, भाषा विभाग, स्वामी विवेकानंद सुभारती विश्वविद्यालय, मेरठ

ईमेल-sseema561@gmail.com

2. **रंजना नैब,** शोधार्थी, भाषा विभाग, स्वामी विवेकानंद सुभारती विश्वविद्यालय, मेरठ

ईमेल-vaishnaviranjananeb@gmail.com

सार

भारतीय वाङ्मय विश्व की प्राचीनतम एवं समृद्ध ज्ञान-परंपराओं में से एक है, जिसमें समरसता, सहिष्णुता, करुणा, अहिंसा, सहअस्तित्व तथा विश्वबंधुत्व जैसे मानवीय मूल्यों का व्यापक प्रतिपादन हुआ है। वैदिक साहित्य, उपनिषद, रामायण, महाभारत, बौद्ध एवं जैन साहित्य, भक्ति साहित्य तथा आधुनिक भारतीय साहित्य में समरसता की अवधारणा विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य भारतीय वाङ्मय में निहित समरसतामूलक चिंतन का अध्ययन करना तथा उसके सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व को रेखांकित करना है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि भारतीय साहित्य ने जाति, वर्ग, धर्म, भाषा एवं संप्रदायगत विभाजनों से ऊपर उठकर मानव मात्र की एकता, समानता और बंधुत्व का संदेश दिया है। शोध में विश्लेषणात्मक एवं व्याख्यात्मक पद्धति का उपयोग करते हुए वैदिक वाङ्मय, रामकथा साहित्य तथा भक्तिकालीन काव्यधारा के प्रमुख उदाहरणों का विवेचन किया गया है। अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भारतीय वाङ्मय समरस समाज की स्थापना का सशक्त आधार प्रस्तुत करता है तथा वर्तमान वैश्विक परिदृश्य में इसकी प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है।

कुंजी शब्द: भारतीय वाङ्मय, समरसता, भारतीय संस्कृति, विश्वबंधुत्व, सामाजिक समन्वय, भक्ति साहित्य।

भारतीय वाङ्मय अपनी अद्वितीय समृद्धि के लिए विख्यात है, जिसमें समरसता के भाव को सुगमता से देखा जा सकता है। वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत, बुद्ध और महावीर की शिक्षाएँ तथा वर्तमान समय तक उपलब्ध साहित्य इसका प्रमाण है जहाँ समरसता, सहिष्णुता, अहिंसा, करुणा और सर्वधर्म समभाव के सिद्धांतों का उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है। इन ग्रंथों ने न केवल मानव मात्र बल्कि सभी प्राणियों के प्रति दया, सम्मान और प्रेम का संदेश दिया है और सभी को परमात्मा के अंश के रूप में माना है। इसकी मीमांसा यह कहकर की गई है- **'एकं सत् विप्रा: बहुधा वदन्ति।'1** अर्थात सत्य एक है और इस सत्य को ही विप्र जन अथवा ऋषिगण या ज्ञानी विभिन्न तरह से व्याख्यायित करते हैं और जनसामान्य अनेक प्रकार से समझाते हैं इसीलिए इस दुनिया में असंख्य मत हैं। भारतीय मनीषियों के द्वारा अनुभूत और प्रतिपादित सामासिक एकता का यह दर्शन ही भारतीय संस्कृति की विशिष्टता और उसका प्राण है।

"समरसता एक विस्तृत विचार है। इस सोच के साथ भावनात्मकता भी जुड़ी हुई है। समरस हो जाना मतलब एक रूप हो जाना। न कोई छोटा न कोई बड़ा, न कोई सवर्ण न कोई शूद्र, न कोई हिंदू न कोई मुसलमान, न कोई गरीब न कोई अमीर, न कोई स्त्री न कोई पुरुष। सब समान, सब इंसान। सामाजिक समरसता का मूल उद्देश्य समाज समाज के बीच भाईचारा, सद्भावना और अपनत्व का निर्माण करना है।"2 अर्थात सामाजिक समरसता ऐसी संकल्पना है जो मत, पंथ, संप्रदाय, क्षेत्र, भाषा, जाति, वर्ण, दर्शन, विचार आदि के आधार पर भेदभाव का निषेध करती है एवं अस्पृश्यता का जड़ से उन्मूलन कर समाज में परस्पर प्रेम एवं सौहार्द्र बढ़ाने का कार्य करती है तथा समाज के प्रत्येक वर्ग में एकता की भावना को स्थापित करती है। भारतीय वाङ्मय में प्राचीन से लेकर अद्यकाल तक के साहित्य में इस भाव के प्रवाह को सरलता से अनुभूत किया जा सकता है। इस संबंध में पं. मदनमोहन मालवीय का कहना है कि ‘‘भारतीय सभ्यता और संस्कृति की विशालता और उसकी महत्ता तो संपूर्ण मानव के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित करने की पवित्र भावना में निहत है।” महोपनिषद का यह श्लोक इस विचार का प्रतिपादक सूत्र है-

“**अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥”3** अर्थात यह मेरा है और यह मेरा नहीं है, इस तरह की गणना छोटे चित्त वाले लोग करते हैं। उदार हृदय वाले लोगों के लिए तो सम्पूर्ण वसुधा अर्थात पृथ्वी ही परिवार है। यह संकल्पना मनुष्य की सामाजिकता, सामासिकता और समरसता का विराट दर्शन है। वसुधैव कुटुंबकम् भारतीय जीवन दर्शन का सार वाक्य है। हर भारतीय इस पर गर्व करता है। विश्व बंधुत्व की भावना को प्रगाढ़ करने वाले इस सूत्र वाक्य के मूल तथा भारतीय दर्शन की गहराई को दुनिया ने समझ लिया है और इसे बढ़ावा देने की दिशा में कदम उठाए जा रहे हैं। इन प्रयासों ने वसुधैव कुटुंबकम् को विश्व भर में तेजी से लोकप्रिय बनाने का काम किया है। भारतीय वाङ्मय में हजारों वर्ष पहले से ही शांतिपूर्ण सहअस्तित्व और बंधुत्व की भावना के महत्व को देखा जा सकता है। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना उसी ओर इंगित करती है, अब इसकी बढ़ती प्रासंगिकता और आवश्यकता ने भारतीय संस्कृति और साहित्य की ओर भी विश्व का ध्यान आकृष्ट किया है। समरसता के भावबोध का मूल समझने के लिए ऋग्वेद की अग्र दो ऋचाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं -

“सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्यआ ।

इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ।।”4 भावार्थ यह है कि प्रभु (परम सत्ता) समस्त सुखों की वर्षा करने वाले सब के पिता हैं और पितृत्व के आधार पर सब प्राणियों में समरसता प्रकृति का अपेक्षित नियम है तो स्वभावतः कोई भेदभाव सम्भव नहीं है। इसी प्रकार समरसता एक अन्य सूत्र है-

“**सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।**

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।"5 अर्थात हम समष्टि की भावना से प्रेरित होकर सभी कार्यों को साथ-साथ करें, जैसा जगत् की समस्त देवशक्तियां करती हैं, उन्ही का हम भी अनुकरण करें। उल्लेखनीय यह है कि **'सं वो मनांसि'** कहकर 'हमारे मन एक हों।' इस बात पर बल दिया गया है मत ऐक्य पर नहीं। अर्थात मत भिन्न होने पर भी मन एक होना चाहिए। यही कारण है की भरतीय संस्कृति में हर सकारात्मक मत का स्वागत किया जाता है।

ध्यातव्य है कि इस संस्कृति का स्वरूप भारतीय वाङ्मय में सबसे अधिक सामर्थ्यपूर्ण ढंग से अभिव्यंजित होता है। संस्कृति साहित्य का प्राण है। साहित्य की विभिन्न विधाओं में संस्कृति के प्रभाव को देखा जा सकता है। यहाँ की संस्कृति के आधारभूत मूल्य दया, करूणा, प्रेम, शांति, सहिष्णुता, क्षमाशीलता और समरसता इत्यादि को भारतीय साहित्य में समुचित तरीके से अभिव्यक्ति दी गयी है। भारतीय संस्कृति का यह समन्वित रूप भाषा के माध्यम से रामायण, महाभारत, गीता, कालिदास-भवभूति-भास के काव्यों और नाटकों, के माध्यम से बार-बार व्यक्त हुआ है। इस दृष्टि से हिंदी का भक्ति साहित्य अद्‌भुत है। भारतीय वाङ्मय निश्चय ही समरस भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

भक्तिकाल में मुगलकालीन व्यवस्था के कारण भारतीय समाज में कई तरह की विसंगतियाँ आ गई थीं परिणामतः तत्कालीन कवियों ने उन विसंगतियों पर पर्याप्त लेखन किया किया और समाज में समरसता लाने का कार्य किया। इस काल में रामानंद का व्यक्तित्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने अपना शिष्य बनाया। इसका प्रभाव कबीर की बानियों में स्पष्ट रूप से देख जा सकता है। जब वे लिखते हैं -

जाति-पांति पूछे नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।

वैदिक वाङ्मय एवं प्राचीन संस्कृत साहित्य में कहीं भी जाति व्यवस्था या अस्पृश्यता के उदाहरण नहीं दिखाई देते। वहाँ वर्णव्यवस्था का उल्लेख है जिसका जाति व्यवस्था से कोई साम्य नहीं। इस संबंध में भगवत गीता के इस श्लोक को देख सकते हैं जहाँ भगवान श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं -

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।"6 गुण और कर्मों के विभाग से चातुर्वण्य मेरे द्वारा रचा गया है। यद्यपि मैं उसका कर्ता हूँ, तथापि तुम मुझे अकर्ता और अविनाशी जानो।। वेदों में लोगों के वर्ण के अनुसार उन्हें चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है। यह वर्गीकरण उनके जन्म के अनुसार न कर उनकी प्रकृति के अनुरूप किया गया है। वर्गों में यह विविधता प्रत्येक समाज में होती है। साम्यवादी राष्ट्रों में जहाँ समता का सिद्धान्त प्रमुख है वहाँ भी मानव समाज में विभिन्नताओं को नकारा नहीं जा सकता। वहाँ कुछ ऐसे दार्शनिक हैं जो साम्यवादी दल के प्रमुख योजनाकार हैं। कुछ लोग

सैनिक के रूप में अपने देश की रक्षा करते हैं। वहाँ किसान भी हैं जो खेती-बाड़ी करते हैं और वहाँ फैक्टरियों में कार्य करने वाले कर्मचारी भी हैं।

वैदिक दर्शन में इन श्रेणियों का और अधिक वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया गया है। इनमें यह वर्णन मिलता है कि प्रकृति की शक्ति द्वारा तीन गुण निर्मित होते हैं-सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। ब्राह्मणों में सत्वगुण की प्रधानता होती है। वे विद्या और पूजा की ओर प्रवृत्त होते हैं। क्षत्रिय वे हैं जिनमें रजोगुण की प्रमुखता और कुछ मात्रा में सत्वगुण मिश्रित होता है। उनकी रुचि प्रशासन और प्रबंध संबंधी कार्यों में होती है। वैश्यों में रजोगुण और तमोगुण मिश्रित होते हैं। तदानुसार वे व्यावसायिक और कृषि संबंधी कार्य करते हैं। समाज में शूद्र लोग भी होते हैं। उनमें तमोगुण की प्रबलता होती हैं, इन्हें श्रमिक वर्ग कहा जाता है।

इस वर्गीकरण का संबंध न तो जन्म से था और न ही यह अपरिवर्तनीय था। श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में स्पष्ट किया है कि इस वर्णाश्रम व्यवस्था का वर्गीकरण लोगों के गुणों और कर्मों के अनुसार था। यद्यपि भगवान संसार के सृष्टा हैं किन्तु फिर भी वे अकर्ता हैं। जैसे कि वर्षा का जल वनों में समान रूप से गिरता है किन्तु कुछ बीजों से बरगद के वृक्ष उगते हैं, कुछ बीजों से सुन्दर पुष्प खिलते हैं और कहीं पर कांटेदार झाड़ियाँ निकल आती हैं। वर्षा बिना पक्षपात के जल प्रदान करती है और इस भिन्नता के लिए उत्तरदायी नहीं होती। इसी प्रकार से भगवान जीवात्माओं को कर्म करने के लिए शक्ति प्रदान करते हैं और वे अपनी इच्छानुसार इसका प्रयोग करने का निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हैं किन्तु भगवान उनके कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होते।

विश्व का प्रथम महाकाव्य महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण है। जिसमें भेदभाव और छूआछूत को महत्व न देकर केवल सामाजिक समरसता की ही प्रेरणा दी गई है। वनवासी राम का सम्पूर्ण जीवन सामाजिक समरसता का अनुकरणीय पाथेय है। श्रीराम ने वनगमन के समय प्रत्येक कदम पर समाज के अंतिम व्यक्ति को गले लगाया। केवट के बारे में हम सभी ने सुना ही है, कि कैसे भगवान राम ने उनको गले लगाकर समाज को यह संदेश दिया कि प्रत्येक मनुष्य के अंदर एक ही जीव आत्मा है। बाहर भले ही अलग दिखते हों, लेकिन अंदर से सब एक हैं। यहां जाति का कोई भेद नहीं था।

भक्तिकालीन कवियों ने भी छुआछूत का खुलकर विरोध किया है। कबीर इनमें प्रमुख हैं उन्होंने जहाँ भी किसी तरह की विकृति देखी उस पर खुलकर प्रहार किया और समाज सुधार पर स्पष्ट रूप से अपनी बात कही है -

“जाति पूछो साधु की, पूछ लिजिए ज्ञान, मोल करो तरवार का, पड़ा रहन दो म्यान।”

कबीर सौहार्द्र और समरसता के कवि हैं। किसी के मन को दुखाने में भी वे हिंसा का प्रतिरुप देखते हैं। दया भाव उनकी रग-रग में कूट-कूट कर भरा था। जीवों को पीड़ा पहुंचाने पर उनके हृदय में एक टीस उभर कर आती है। कबीर के मन में अपने विरोधियों के प्रति कभी कुटिलता के भाव स्वप्न में भी नहीं आए। वे इन मानवीय गुणों को सामाजिक समरसता की पूंजी के रूप में देखते हैं। तभी तो वे नि:संकोच कहते हैं-

कपट कुटिलता छांडि कै, सबसों मित्रहि भाव

कृपावान सस ज्ञानवान, बैरभाव नहिं काव।

“कबीरा खड़ा बाजार में, मांगे सब की खैर।

ना काहू सों दोस्ती, न काहू सों बैर।।”

कबीर की भाँति भक्तिकालीन कवि तुलसीदास भी समाज के सभी भेदभावों को मिटाकर समरसता स्थपित करने वाले कवि हैं। उदाहरण स्वरूप उनकी अग्र पंक्तयाँ देख सकते हैं -

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धनबल परिजन गुन चतुराई।।

भगति हीन नर सोइह कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा।।”7 अर्थात्- जाति, पांति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुरता- इन सबके होने पर भी भक्ति से रहित मनुष्य कैसा लगता है, जैसे जलहीन बादल।

उनके काव्य में राम राज्य की जो संकल्पना है समरसता का उससे उच्च शीर्ष और क्या हो सकता है। जब वे लिखते हैं -

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥ अर्थात रामराज्य' में दैहिक, दैविक और भौतिक ताप (कष्ट) किसी को नहीं व्यापते। सब मनुष्य परस्पर प्रेम करते हैं और वेदों में बताई हुई नीति (मर्यादा) में तत्पर रहकर अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं। इनके संबंध में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन बहुत समीचीन है, “उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है जैसे लोक और शास्त्र का समन्वय, गृहस्थ और वैराग्य का समन्वय, भाषा और संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय कथ्य और तत्त्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय रामचरितमानस शुरू से आखीर तक समन्वय का काव्य है।”

“स्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात।

रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥”8

“बयरु न करु काहू सन कोई, राम प्रताप विषमता खोई।

सब नर कराहिं परस्पर प्रीती, चलहिं स्वधर्म निरत स्रुहि नीती।”9

सामाजिक समरसता अर्थात वह समाज जहां कोई भी भिन्नता नहीं है, जहां सभी मिलजुल कर रहते हैं और इस वांछित समरसता की प्राप्ति का सूत्र इससे भिन्न और क्या हो सकता है? जब तुलसी लिखते हैं- **'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, परपीड़ा सम नहीं अधमाई।'**

भारतीय संस्कृति में समरसता का मूल सामूहिक एकता में है। जिसमें विभिन्न मत, पंथ, जाति, धर्म और भाषा-भाषी लोगों को एक धरातल पर लाने कला है। विभिन्न सम्प्रदायों और सांस्कृतिक परंपराओं के समृद्धिकरण ने इसे समरसता के शीर्ष पर स्थापित किया है। भारतीय संस्कृति में समरसता का महत्वपूर्ण बिंदु उसके धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक सामंजस्य में है और इन सबके मूल में आध्यात्मिक चेतना निहित है। यह आध्यात्मिक चेतना विश्वजनीन सुमति की बात करती है-

समानी व आकूति: समाना ह्रदयानि व:।

समानमस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति॥10 हमारा उद्देश्य एक हो, हमारी भावनाएँ सुसंगत हो। हमारे विचार एकत्रित हो। जैसे इस विश्व के, ब्रह्मांड के विभिन्न पहलुओं और क्रियाकलापों में तारतम्यता व एकता है। वेदों के अनुसार पारस्परिक सहयोग, सद्भाव, समन्वय और सहायता करना ही मानव का प्रथम कर्त्तव्य है। आदर्श एवं अनुकरणीय उदाहरण ऋग्वैदिक ऋषियों के द्वारा समाज को दिया गया है। ऋग्वेद के इस विचार का क्रमिक विकास हम विनय चंद्र मौद्गल्य की इन पंक्तियों में देख सकते हैं जब वे कहते हैं- **'हिन्द देश के निवासी सभी जन एक हैं रंग रूप वेश भाषा चाहे अनेक हैं।'**

निष्कर्षतः कह सकते हैं समरसता भारतीय संस्कृति की विशेषता है। भारतीय समाज ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं परिणामतः समय-समय पर कई तरह की जटिलताएँ भी आई हैं लेकिन ये कभी स्थाई नहीं रह सकीं क्योंकि भारतीय संस्कृति में विवेक और तर्क का स्थान सर्वोपरि है। अतः सभी तरह की जटिलताओं और कठिनाइयों का निवारण बहुत तर्कपूर्ण और न्यायोचित ढंग से किया जाता रहा रहा है और इस कार्य में भारतीय वाङ्मय की महती भूमिका है। कहा जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। इस दृष्टि से जब हम भारतीय वाङ्मय को देखते हैं तो समरसता इसका मूल तत्त्व है और यह प्रवृति वैदिक वाङ्मय से अद्यावधि तक के साहित्य में दिखाई देती है।

सन्दर्भ सूची-

1. ऋग्वेद 1. 164. 46
2. डा. नरेश मगरा, साहित्य सेतु ISSN:2249-2372, Year-10, Issue 2, Continuous Issue 56, March-April 2020
3. महोपनिषद्, अध्याय 4, श्लोक 71
4. ऋग्वेद 10.191.1

5. ऋग्वेद 10.191.2
6. भगवद्गीता, अध्याय 4, श्लोक 13
7. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा -3 , गीता प्रेस गोरखपुर
8. गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस, अयोध्या काण्ड, दोहा,194, गीता प्रेस गोरखपुर
9. रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड
10. ऋग्वेद-10. 191. 4